



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(6): 23-27

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 17-08-2022

Accepted: 21-09-2022

लोकेश शर्मा

पी-एच०डी शोधच्छात्र,
संस्कृत -विभाग, हिमाचल
प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला, हिमाचल प्रदेश,
भारत

डॉ. दीप लता

शोध निर्देशिका,
सहायक-आचार्य, संस्कृत-
विभाग, हिमाचल प्रदेश
विश्वविद्यालय, शिमला,
हिमाचल प्रदेश, भारत

Corresponding Author:

लोकेश शर्मा

पी-एच०डी शोधच्छात्र,
संस्कृत -विभाग, हिमाचल
प्रदेश विश्वविद्यालय,
शिमला, हिमाचल प्रदेश,
भारत

अष्टावक्र गीता में वर्णित आत्म तत्त्व

लोकेश शर्मा, डॉ. दीप लता

प्रस्तावना

सृष्टि में गीता शास्त्र का एक विशिष्ट स्थान है। जिस कारण गीता को प्रस्थानत्रयी के अंतर्गत उपनिषद् साहित्य तथा ब्रह्म सूत्र के अनन्तर तीसरा स्थान प्राप्त है। गीता शब्द की निष्पत्ति 'गै शब्दे' इस भ्वादिगणीय धातु में क्त प्रत्यय तथा स्त्रीलिंग में टाप् प्रत्यय लगाकर होती है। 'गै शब्दे' इस धातु रूप से निष्पत्ति होने के कारण गीता शब्द 'गाए जाने' अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थात् अध्यात्म विद्या से सम्बन्धित उपदेशों का जहां पर गान होता है वह गीता कहलाती है।^[1] वामन शिवराम आप्टे के अनुसार गीता से तात्पर्य ऐसे धार्मिक ग्रन्थों से है जो कि गुरु-शिष्य सम्वाद के रूप में धार्मिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं।^[2] इस प्रकार गुरु शिष्य की कल्पना द्वारा आत्मविद्या से सम्बन्धित उपदेश देने वाली कथा विशेष गीता कहलाती है, जो भगवद्गीता, रामगीता आदि भेद से बहुत प्रकार की है, परन्तु उनमें भी विशेष प्रसिद्धि श्रीमद्भगवद्गीता की है।^[3]

सामान्यतः गीता नाम से महाभारत में भीष्म पर्व के अन्तर्गत श्रीकृष्ण-अर्जुन सम्वाद के रूप में उपलब्ध 700 श्लोकों वाली श्रीमद्भगवद्गीता प्रचलित है। जिसमें भगवान् कृष्ण ने मोह में पड़े अर्जुन को अपने उपदेशों द्वारा कर्तव्य का ज्ञान करवाया है। परन्तु उसी महाभारत के शान्ति पर्व के अन्तर्गत मोक्ष धर्म के प्रकरणों के रूप में विभिन्न गीताएँ जैसे पिंगला गीता, उतथ्यगीता, वामदेव गीता, शङ्ख गीता, शम्पाक गीता, मंकि गीता, बोध्य गीता, विचखु गीता, हारीत गीता, वृत्र गीता, पराशर गीता और हंस गीता मिलती है। पुराणों में भी अनेक गीताएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें गणेश गीता, ईश्वर गीता, व्यास गीता, ब्रह्म गीता, यम गीता, राम गीता, आदि प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त गीता नाम से कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जिनमें दत्तात्रेय विरचित अवधूत गीता, महर्षि याज्ञवल्क्य कृत याज्ञवल्क्य गीता, कश्यप गीता, शौनक गीता, नहुष गीता, सरस्वती गीता एवं अष्टावक्र गीता आदि मुख्य ग्रन्थ हैं। महाभारत के अष्टावक्र आख्यान से सर्वथा पृथक् यह अष्टावक्र गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसमें महर्षि अष्टावक्र द्वारा जनक को आत्मतत्त्व विषयक ज्ञान दिया गया है जो वेदान्त पथगामी मुमुक्षु साधकों के लिए पथप्रदर्शक है। महर्षि अष्टावक्र और जनक के सम्वाद रूप में निबद्ध यह गीता चिन्तन की गहराई को पूर्णतया व्यक्त करती है। अद्वैत भाव की प्रतीति, उसकी प्राप्ति हेतु उपाय तथा ब्रह्मवेत्ता पुरुष सम्बन्धी लक्षण इस ग्रन्थ में स्पष्टतया उद्धृत किए गए हैं।^[4] राजर्षि जनक की आत्मविषयक जिज्ञासा ही उन्हें अष्टावक्र से प्रश्न करने हेतु प्रेरित करती है, जिसके कारण वे उनसे परम ज्ञान, मुक्ति और वैराग्य की प्राप्ति हेतु उपाय पूछते हैं। यथा-राजा जनक द्वारा किया गया यही प्रश्न अष्टावक्र गीता रूपी सरिता का उद्गम सिद्ध होता है, जिससे समस्त तत्वान्वेषक समुदाय अपनी आत्मज्ञान सम्बन्धित क्षुधा को तृप्त करता है। ज्ञान प्राप्ति का क्या उपाय है? मेरी मुक्ति किस प्रकार होगी? वैराग्य कैसे प्राप्त होता है? जनक द्वारा पूछे गए यह तीन प्रश्न ही अष्टावक्र को अद्वैतरूप आत्मतत्त्व के विषय में प्रवचन हेतु प्रेरित करते हैं। वे जनक से कहते हैं कि हे तात ! यह पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाश तुम नहीं हो।^[5] न तुम किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ग के हो, न ही ब्रह्मचर्य आदि आश्रम से सम्बन्धित और न ही इन आंखों से देखे जा सकने वाले हो। तुम ना कर्ता हो और ना ही भोगों को भोगने वाले भोक्ता ही हो।^[6] आदि गुरु शंकराचार्य भी आत्मस्वरूप के विषय में कहते हैं कि मैं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, कान, नाक, जीहवा और नेत्र आदि से संयुक्त यह शरीर नहीं हूँ। न मैं पृथ्वी, आकाश आदि पञ्चमहाभूत ही

हूँ। न ही मैं प्राण संज्ञक, पञ्चवायु, सप्तधातु, पञ्चकोश तथा एकादश इन्द्रिय हूँ।^[7] इस प्रकार निषेधात्मक रूप से अष्टावक्र राजा जनक को सर्वप्रथम यह बतलाते हैं कि वे जो कुछ भी स्वयं को समझते हैं, वास्तव में वे इनमें से कुछ भी नहीं हैं। वे क्या नहीं हैं, इसके सूक्ष्म ज्ञान से ही वे इस ज्ञान को समझने में सक्षम हो जाते हैं कि वे वास्तव में क्या हैं। जब मनुष्य की सभी मान्यताएं, सभी अवधारणाएं अवास्तविक सिद्ध होने लगती हैं तभी वह वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता है। अन्यथा तो वह स्वयं को ही ज्ञानी समझे रहता है। इस प्रकार अपनी ही मान्यता रूप मिथ्याज्ञान में रहने वाला, स्वयं को बुद्धिमान् तथा सबका ज्ञाता अर्थात् पण्डित समझने वाला व्यक्ति उसी प्रकार प्रत्येक मार्ग में ठोकर खाता है जैसे अन्धे के द्वारा ले जाया जाता हुआ अन्धा ठोकर खाता है।^[8] इस संसार में प्रत्येक देही को भी यह मिथ्या ज्ञान होता है कि वह देह है, यह शरीर उसका है, यह घर, यह धन, यह परिवार उसका है। अपने इसी अहंकार के कारण ही उस देही का इन भौतिक वस्तुओं से ममत्व तथा तादात्म्य भी प्रगाढ़ हो जाता है। जिसके कारण ही वह शुभ की प्राप्ति से सुखी तथा अशुभ की प्राप्ति से दुःखी होता रहता है। सांख्यकारिका के अनुसार दुःख से तात्पर्य जीव के पुनः पुनः जन्म-मरण रूप आवागमन से है।^[9] जीव का स्वयं को यह देह मान लेना तथा इस संसार को वास्तविक समझ लेना ही उसके बन्धन का कारण बन जाता है। यह मन मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है, विषयों के प्रति आकृष्ट होना ही बन्धन का कारण तथा विषयों से विमुख होना ही मोक्ष है।^[10] कठोपनिषद् के अनुसार आत्मस्वरूप के ज्ञान की प्राप्ति में मन ही एकमात्र कारण है।^[11] अष्टावक्र ने भी सर्वप्रथम राजा जनक की मान्यताओं का, उनके देहाभिमान का निराकरण

किया, तत्पश्चात् उनके आत्मस्वरूप का उन्हें बोध करवाया। राजा जनक के वास्तविक स्वरूप को उन्हें बताते हुए अष्टावक्र कहते हैं कि तुम निराकार हो, असंग हो, सबके साक्षीरूप द्रष्टा हो, तुम्हारा स्वरूप ही नित्य मुक्त है, तुम सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर प्रपञ्च के एकमात्र देखने वाले द्रष्टा हो, जो सदा सर्वदा मुक्त ही है। [12] यह आत्मस्वरूप देही भेदशून्य, निराकार रूप तथा सर्वव्यापी होने के कारण सभी इन्द्रियों में व्याप्त है। इस अनासक्त आत्मा का न तो बन्धन है और न ही मोक्ष। [13]

श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को आत्मा के विषय में कहते हैं कि यह आत्मा कभी भी न तो जन्म लेता है, न मरता है और न ही उत्पन्न होकर पुनः होने वाला है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत होने के कारण शरीर के नाश होने पर भी नहीं मारा जाता। [14] कठोपनिषद् में भी नचिकेता को आत्मा के विषय में बताते हुए यम कहते हैं कि यह आत्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, महान् से भी महान् है तथा इस शरीर के हृदय रूपी गुफा में इसका निवास है। [15]

देह में निवास करने वाले देही की ही संज्ञा आत्मा है। सांख्य में इसे पुरुष कहा गया है जो साक्षी, मध्यस्थ, द्रष्टा और अकर्ता आदि गुणों से युक्त है। अतः आत्मा रूपी पुरुष का इन सभी गुणों के विपरीत अपने आप को अध्यारोपित कर लेना ही उसका बन्धन है। जिस प्रकार लोक में घट आदि का शीत-ऊष्ण से सहयोग होने पर घड़े को ही शीत-ऊष्ण कहा जाता है, उसी प्रकार इस अचेतन शरीर का उस चेतन आत्मा के साथ संयोग होने पर उसे ही चेतन मान लिया जाता है। यहां समस्त क्रिया के हेतु सत्त्व, रजस्, तमस् यह तीन गुण होते हैं परन्तु उस उदासीन आत्मा को समस्त क्रियाओं का कर्ता मान लिया जाता है। [16] वास्तव में तो यह आत्मा केवल साक्षी, द्रष्टा तथा ज्ञान का अधिकरण मात्र है- **ज्ञानाधिकरणमात्मा।** [17]

इस प्रकार बोधस्वरूप यह आत्मा साक्षी, विभु, पूर्ण, अद्वैत, सदैव मुक्त, चेतन, निष्क्रिय, असंग,

निःस्पृह एवं शान्त है। वह भ्रम वश ही स्वयं को संसारी मान बैठता है। यथा-

**आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदकृत्यः।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव।।** [18]

समस्त विश्व के पदार्थ, यह देह आदि जो कुछ भी अज्ञान से लेकर सकल जड़समुदाय है, वह अवस्तु कहलाता है तथा सच्चिदानन्द, अनन्त, अद्वैतब्रह्म ही वस्तु कही जाती है। [19] जिस प्रकार अन्धकार में रस्सी को दूर से देखने पर भ्रमवश रस्सी का ज्ञान न होकर उसके स्थान पर सर्प के रूप का मिथ्याज्ञान होता है। उसी प्रकार जब सर्वदा मुक्त, आनन्दस्वरूप, असीमित, जन्ममरण से रहित इस आत्मा के स्थान पर बद्ध, दुःखी, सीमित, जन्म-मरण रूप आवागमन से युक्त शरीर रूपी सांसारिक प्रपञ्च का ज्ञान होता है, तो यही मिथ्याज्ञान अध्यारोप कहलाता है-

**असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्
वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।** [20]

अध्यारोप रूपी भ्रम के वशीभूत होकर ही आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर उसके स्थान पर स्वयं को देह मान लेता है। स्वयं को देह मान लेने पर ही देह से सम्बन्धित सभी सुख-दुःख तथा सांसारिक सम्बन्ध भी उसके हो जाते हैं। वह भ्रमवश इस संसार में बन्ध कर तथा इसी को वास्तविक मानकर स्वयं को यहां का वासी मान बैठता है। जो स्वयं को मुक्त मानता है वह वास्तव में मुक्त ही है तथा जिसने स्वयं को बन्धा हुआ मान लिया उसके मानने मात्र से वह स्वतन्त्र होता हुआ भी बन्धा हुआ ही है। इसके सम्बन्ध में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जैसी जिसकी मति होती है वैसी ही गति होती है। यथा-

**मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंम्वदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥** [21]

अतः स्वयं को इस संसार में दुःखी तथा बन्धा हुआ मानने के कारण सच्चिदानन्द स्वरूप तथा सदैव मुक्त यह आत्मा भी बन्ध जाता है, तभी इस आत्मा को मन के द्वारा ही प्राप्त किए जाने योग्य कहा गया है।^[22] जिस प्रकार सीप के स्वरूप को न जानने से उसे चांदी समझकर चांदी का लोभ होता है, वैसे ही स्वयं को न जानने के कारण और सांसारिक विषयों को वास्तविक मानने के कारण ही उनके प्रति प्रीति होती है।^[23] राजर्षि जनक के पूछने पर महर्षि अष्टावक्र सर्वप्रथम उनके देहाभिमान को नष्ट करते हैं, अनन्तर उनके वास्तविक स्वरूप का उन्हें बोध करवाते हैं। इस प्रकार राजा जनक की जिज्ञासा को शान्त करते हुए महर्षि उस आत्मबोध रूप ज्ञान की प्राप्ति के साधन का उन्हें उपदेश देते हैं कि हे राजन् ! तुम्हारा इस देह को ही अपना स्वरूप मान लेना ही तुम्हारा बन्धन है। जिस क्षण भी इस देह से स्वयं को पृथक् समझकर अपने चेतनस्वरूप में शान्तरूपेण स्थित हो जाओगे तथा इस देह से मिथ्या तादात्म्य का परित्याग कर दोगे, उसी क्षण तुम सुखी, शान्त एवं बन्धनमुक्त हो जाओगे। यथा-

यदि देहं पृथक्कृत्य चित्ति विश्राम्य तिष्ठसि।

अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥^[24]

जिस प्रकार अपने स्वरूप के बोध को त्याग कर इस संसार को वास्तविक समझ लेना बन्धन है, उसी प्रकार इस संसार के बोध को त्याग कर स्वयं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना ही मोक्ष है। अष्टावक्र राजर्षि जनक से कहते हैं कि तुम अपने आपको इस सांसारिक प्रपञ्च से पृथक् अपने इस शरीर में स्थित चेतनस्वरूप साक्षी समझो। यही मुक्ति का साधन है अर्थात् तभी स्वयं को इस देह से पृथक् तथा मुक्त देख पाओगे।^[25] तुमने स्वयं को यह देह मान लिया है जिसके कारण देह से सम्बन्धित समस्त उपद्रव तुम्हें उतने ही वास्तविक लगने लगते हैं जितना कि यह शरीर। जब तुम यह

देह ही नहीं हो तो यह देह सम्बन्धित समस्त सांसारिक उपद्रव तुम्हारे कैसे? तुम्हारा स्वरूप ही सदैव मुक्त है, जिसके कारण तुम स्वरूपतः नित्य मुक्त ही हो- मुक्त एवासि सर्वदा।^[26] इस शरीर को अपना मानने के कारण ही इसकी समस्त क्रियाएं भी अपनी ही लगने लगती हैं। तभी तो इस शरीर के अनुकूल जो कुछ भी प्राप्त होता है उससे सुख की प्रतीति तथा इसके प्रतिकूल होने पर दुःख का अनुभव होता है।^[27] इस संसार में जो भी रिश्ते-नाते, माता-पिता पुत्र-पुत्री आदि सम्बन्ध हैं इस शरीर के कारण ही तभी उन समस्त सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाले सुखों से हम सुखी तथा दुःखों से दुःखी होते रहते हैं। अतः अष्टावक्र जनक से कहते हैं कि तुम इस दृश्यमान् संसार के देखने वाले द्रष्टा मात्र तथा सदा सर्वदा मुक्त ही हो। तुम्हारा बन्धन ही यह है कि तुमने द्रष्टा को स्वयं से अलग समझ लिया है। यथा-

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

अयमेव हितेबन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥^[28]

जिस प्रकार समुद्र से बुलबुले उठते हैं उसी प्रकार इस आत्मा रूप तुम से ही यह समस्त दृश्यमान् पदार्थ उदय होते हैं। एकमात्र आत्मतत्त्व को जानने वाला पुरुष मुक्त हो जाता है। यद्यपि यह सम्पूर्ण चराचर जगत् प्रत्यक्षरूप में दिख रहा है तथापि आत्मा रूप शुद्ध स्वरूप में इसका अस्तित्व नहीं है, जैसे रज्जू में सर्प के ज्ञान । इस प्रकार से इसे जानने वाला पुरुष मुक्त हो जाता है।^[29] महर्षि अष्टावक्र बौद्धिक ज्ञान को मिथ्या मानते हैं, अनेक शास्त्रों का बार-बार अध्ययन तथा श्रवण भी मिथ्या है।^[30] अतः आत्मस्वरूप में स्थिति चाहने वाले पुरुष को सभी प्रकार के बौद्धिक ज्ञान को विस्मृत कर देना चाहिए। वह राजा जनक से कहते हैं कि चाहे तुम्हें भगवान शिव, विष्णु अथवा ब्रह्मा ही उपदेश क्यों ना करें फिर भी सभी प्रकार के ज्ञान का विस्मरण हुए बिना स्वरूप में स्थिति नहीं हो

सकती।^[31]

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि महर्षि अष्टावक्र और राजा जनक के संवाद रूप यह अष्टावक्र गीता तत्वान्वेषी मुमुक्षु जनों को उनके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान हेतु प्रेरित करती है। आत्म स्वरूप के ज्ञान होने पर ही मुमुक्षु साधक को यह अनुभव होता है कि वास्तव में वह शुद्ध, शान्त, ज्ञानस्वरूप एवं प्रकृति से परे है अतएव इतने समय तक अज्ञान ने ही उन्हें भ्रमित करके रखा था। इसलिए वास्तविक ज्ञान को जानने के लिए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना अनिवार्य है। यथा-

अहो निरञ्चनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः॥^[32]

संदर्भ

1. गीयते स्म आत्मविद्योपदेशात्मिका ब्रह्मतत्त्वोपदेशमयी कथा यत्र। शब्दकल्पद्रुम, पृष्ठ- 330
2. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे। पृष्ठ- 345
3. गुरुशिष्य कल्पनया आत्मविद्योपदेशात्मके कथाविशेषे सा च भगवद्गीतादिभेदात् बहुला किन्तु भगवद्गीतायामेव प्रसिद्धिः॥ वाचस्पत्यम्, पृष्ठ- 2593
4. अष्टावक्रगीता, गीतासंग्रह- 472
5. अष्टावक्रगीता 1-1
6. वही 1-3
7. वही 1-5,6
8. निर्वाणषटकम्- 1,2
9. कठोपनिषद्, 1-2-5
10. तत्र जन्ममरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः। सांख्यकारिका- 55
11. अमृतबिन्दु उपनिषद्- 2
12. कठोपनिषद् 2-1-11
13. अष्टावक्रगीता, 1-5,6,7
14. निर्वाणषटकम्- 6

15. श्रीमद्भागवद्गीता, 2-20
16. कठोपनिषद् 1-2-20
17. सांख्यकारिका- 20
18. तर्कसंग्रह, डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी, पृष्ठ-12
19. अष्टावक्रगीता, 1-12
20. वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु। वेदान्तसार, डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी, पृष्ठ-62
21. वही, पृष्ठ-62
22. अष्टावक्रगीता, 1-5
23. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्तइ किञ्चन। कठोपनिषद्, 2-1-11
24. आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
25. शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥ अष्टावक्रगीता, 3-2
26. वही, 1-4
27. एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये। वही, 1-3
28. अष्टावक्रगीता, 1-6
29. अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूल वेदनीयं दुःखम्॥ तर्कसंग्रह, डॉ. सुधांशु कुमार षडङ्गी, पृष्ठ-54
30. अष्टावक्रगीता, 1-6
31. वही, 5-2,3
32. वही, 16-1
33. वही, 16-11
34. वही, 2-1